सीखने की कला

जे. कृष्णमूर्ति

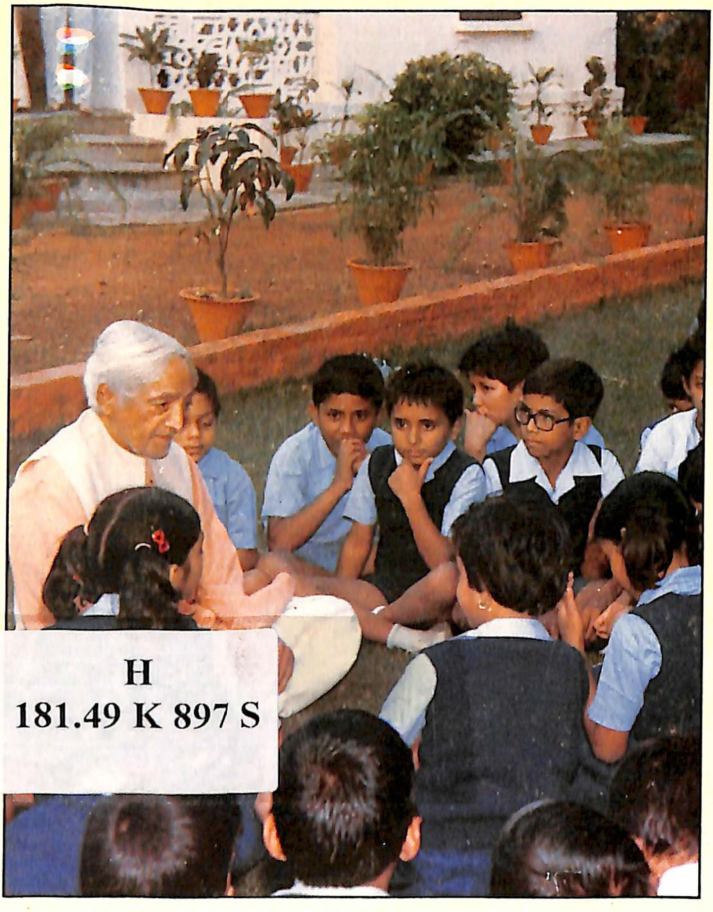

H
181.49 K 897 S

INDIAN INSTITUTE
OF
ADVANCED STUDY
LIBRARY, SHIMLA

सीखने की कला

जे० कृष्णमूर्ति

अनुवाद : सुधाकर तिवारी

कृष्णमूर्ति प्रज्ञा परिषद्
कृष्णमूर्ति फ़ाउण्डेशन इण्डिया
राजघाट फ़ोर्ट, वाराणसी

Seekhane Ki Kala - J. Krishnamurti

Hindi Translation of *On Learning – Introduction to the book 'Life Ahead'*
Translated by Sudhakar Tiwari

Authorised by : Krishnamurti Foundation India

Library IIAS, Shimla
H 181.49 K 897 S
G6092

© 1984 Krishnamurti Foundation India
Vasanta Vihar, 64-65, Greenways Road, Chennai-600 028
Email : kfihq@md2.vsnl.net.in

Fourth Reprint in 2000

Published by
J. Krishnamurti Prajna Parishad
Krishnamurti Foundation India, Rajghat Fort, Varanasi 221 001
Email : kfirvns@nde.vsnl.net.in

Printed by
Sattanam Printers
S 1/208, K-1 Nai Basti, Pandeypur, Varanasi 221 002

परिचय

जिड्डू कृष्णमूर्ति का जन्म 11 मई 1895 को आन्ध्र प्रदेश के एक छोटे-से कस्बे मदनापल्ली में एक धर्म-परायण परिवार में हुआ था। किशोरकाल में उन्हें थिऑस्फ़िकल सोसाइटी की अध्यक्ष डॉ० एनी बेसेंट द्वारा गोद ले लिया गया। कृष्णमूर्ति आगामी 'विश्व शिक्षक' ('वर्ल्ड टीचर') होंगे, ऐसा श्रीमती बेसेंट और अन्य लोगों ने घोषित किया। थिऑस्फ़ी के अनुयायी पहले-ही किसी 'विश्व-शिक्षक' के आगमन की भविष्यवाणी कर चुके थे। धर्मग्रन्थों में भी ऐसा वर्णित है कि मानवता के उद्धार के लिए समय-समय पर 'विश्व शिक्षक' मनुष्य का रूप धारण करता है।

सन् 1922 में कृष्णमूर्ति किन्हीं गहरी आध्यात्मिक अनुभूतियों से होकर गुजरे और उन्हें उस करुणा का स्पर्श हुआ— जैसाकि उन्होंने कहा— जो सारे दुख-कष्टों को हर लेती है। इसके बाद आगे के साठ से भी अधिक वर्षों तक, जब तक कि 17 फरवरी 1986 को उनकी मृत्यु नहीं हो गई, वे अनथक रूप से पूरी दुनिया का दौरा करते रहे— सार्वजनिक वार्ताएँ और साक्षात्कार देते हुए, निजी विवेचनाएँ और संवाद करते हुए तथा लिखते और बोलते हुए। उन्होंने यह भूमिका सत्य के प्रेमी और एक मित्र के रूप में निभाई— गुरु के रूप में उन्होंने स्वयं को कभी नहीं रखा। उन्होंने जो भी कहा वह उनकी अन्तर्दृष्टि का संप्रेषण था— वह महज किताबी या बौद्धिक ज्ञान पर आधारित नहीं था। उन्होंने दर्शनशास्त्र की किसी नई पद्धति या प्रणाली की व्याख्या नहीं की, बल्कि हमारी जो रोज़मर्रा की ज़िन्दगी है उसी की उन्होंने चर्चा की : भ्रष्टाचार और हिंसा

से भरे समाज में जो चुनौतियाँ हैं, इन्सान जो कि सुरक्षा और सुख की तलाश में भटक रहा है, और उसका भय, दुख, क्रोध इत्यादि। उन्होंने बड़ी बारीकी और वास्तविकता के साथ मानव मन की गुत्थियों को सुलझाया और इस बात की महत्ता की ओर संकेत किया कि हमारा दैनिक जीवन सच्चे अर्थों में ध्यान और धार्मिकता की गुणवत्ता से आलोकित होना चाहिए। उन्होंने एक ऐसे आमूलचूल और बुनियादी परिवर्तन की आवश्यकता पर बल दिया जो एक नितान्त नये मानस और नयी संस्कृति को जन्म दे सके।

हालाँकि कृष्णमूर्ति को पूरे विश्व में अब तक के महानतम् धार्मिक शिक्षकों में से एक माना जाता है, फिर भी उन्होंने स्वयं को कभी किसी धर्म, सम्प्रदाय या देश विशेष से जुड़ा हुआ नहीं माना। उन्होंने स्वयं को कभी किसी राजनैतिक सोच या विचारधारा से नहीं जोड़ा। इसके विपरीत उनका कहना था कि ये चीजें मनुष्य-मनुष्य के बीच अलगाव पैदा करती हैं और अन्ततः संघर्ष और युद्ध का कारण बनती हैं। उन्होंने इस बात पर हमेशा जोर दिया कि मनुष्य की चेतना और मानवजाति की चेतना अलग नहीं है, बल्कि हमारे भीतर पूरी मानव जाति, पूरा विश्व प्रतिबिम्बित होता है। प्रकृति और परिवेश से मनुष्य के गहरे रिश्ते और तादात्म की उन्होंने बात की। इस तरह उनकी शिक्षा मानव निर्मित सारी दीवारों, धार्मिक विश्वासों, राष्ट्रीय बँटवारों, और साम्प्रदायिक दृष्टिकोणों से परे जाने का सन्देश देती हैं।

कृष्णमूर्ति के साहित्य में उनकी सार्वजनिक वार्ताएँ, प्रश्नोत्तर, परिचर्चाएँ, साक्षात्कार, परस्पर संवाद, डायरी और उनका स्वयं का लेखन इत्यादि शामिल है। बहुत सारी पुस्तकों के रूप में मूल अंग्रेजी में प्रकाशन

के साथ इनका विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में अनुवाद भी हो चुका है। इसके अतिरिक्त बिल्कुल प्रामाणिक और मूल रूप में उनकी शिक्षा ऑडियो और वीडियो टेपों के माध्यम से भी उपलब्ध है। उन्होंने अध्ययन केन्द्रों ('स्टडी सेन्टर') की स्थापना भी की, जहाँ सत्यान्वेषी जाकर उनकी शिक्षाओं का अध्ययन कर सकते हैं और अपने भीतर की यात्रा भी। कृष्णमूर्ति ने भारत और विदेशों में विद्यालयों की भी स्थापना की जहाँ बच्चों को भय और प्रतिस्पर्धा से रहित वातावरण में खिलने और विकसित होने का अवसर मिल सके।

'कृष्णमूर्ति फ़ाउण्डेशन इण्डिया' कृष्णमूर्ति की किताबों को अंग्रेजी और विभिन्न भारतीय भाषाओं में उपलब्ध कराने की दिशा में कार्यरत है। फ़ाउण्डेशन का प्रमुख सरोकार है कि कृष्णमूर्ति की शिक्षा को किसी भी रूप में तोड़ा-मरोड़ा या विकृत नहीं किया जाये और जितना अधिक सम्भव हो लोगों को आसानी से उपलब्ध कराया जा सके।

प्रस्तुत पुस्तक के अनुवाद कार्य को पूरा करने के लिए फ़ाउण्डेशन श्री सुधाकर तिवारी का आभार प्रकट करता है।

●

सीखने की कला

मुझे ऐसा लगता है कि बढ़ते हुए संकट एवं समस्याओं से घिरे इस संसार में एक पूर्णतया भिन्न प्रकार की नैतिकता, आचरण और क्रिया— जो जीवन की समस्त प्रक्रिया की समझ से उत्पन्न होती है— हमारी एक अनिवार्य आवश्यकता बन गयी है। हम अक्सर इन विवाद-विषयों का समाधान राजनैतिक एवं संगठनात्मक पद्धतियों, आर्थिक पुनर्रचना एवं सुधार के माध्यमों से करने का प्रयत्न करते हैं। इनमें से किसी भी माध्यम से मानव जीवन की जटिल कठिनाइयों का कभी समाधान नहीं होगा, यद्यपि उनसे कुछ समय के लिए राहत मिल सकती है। सभी सुधार, चाहे वे कितने ही व्यापक एवं टिकाऊ लगनेवाले क्यों न हों, स्वयं में आगे और अव्यवस्था पैदा करने वाले एवं और सुधार की माँग करने वाले ही हो जाते हैं। मनुष्य के संपूर्ण जटिल अस्तित्व को समझे बिना किया गया कोई भी सुधार मात्र और अधिक सुधार की माँग पैदा करेगा। सुधार का कोई अन्त नहीं है; और इन मार्गों से किसी प्रकार का मौलिक समाधान नहीं होने वाला है।

राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्रांतियों में से भी इसका उत्तर संभव नहीं है, क्योंकि इनसे या तो भयावह अत्याचारी शासन उत्पन्न होता है या केवल शासन की सत्ता किसी अन्य समूह के हाथ में चली जाती है। ऐसी क्रांतियाँ, किसी भी समय, अव्यवस्था एवं संघर्ष को समाप्त नहीं कर सकती हैं।

किन्तु एक ऐसी भी क्रांति है जो सर्वथा भिन्न है, और यदि हम कभी न समाप्त होने वाली अनन्त चिन्ता, संघर्ष तथा निराशा के क्रम से बाहर आना चाहते हैं तो इस क्रांति का जन्म *होना ही चाहिए*। ऐसी क्रांति सिद्धांत तथा अभिमत के स्तर पर नहीं होनी चाहिए क्योंकि वह अन्ततः निरर्थक सिद्ध होती है— बल्कि वह मन के भीतर ही आमूल परिवर्तन लाकर होनी चाहिए। वह केवल सही शिक्षा तथा मानव के समग्र विकास के द्वारा ही लाई जा सकती है। यह क्रांति सही शिक्षा के माध्यम से, मात्र विचार में नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मन में होनी चाहिए। आखिर, विचार तो कारण नहीं, बल्कि एक परिणाम मात्र है। और परिणाम में नहीं अपितु स्वयं कारण में ही आमूल परिवर्तन होना चाहिए। हम लोग केवल परिणामों के साथ, लक्षणों के साथ पैबंद लगा रहे हैं, और वे परमावश्यक आमूल परिवर्तन नहीं ला रहे हैं जिससे आदतों, परम्पराओं तथा विचारों की पुरानी पद्धतियों का उन्मूलन हो सके। हमें इसी की चिन्ता करनी है और इसे केवल सही शिक्षा ही ला सकती है।

खोजबीन करना और सीखना ही मन का कार्य है। सीखने का मतलब मात्र स्मृति के संवर्धन और जानकारी के संग्रह से नहीं बल्कि ऐसे चिन्तन की क्षमता से है जो सुस्पष्ट, समझदारी का एवं भ्रांतिरहित हो, तथा विश्वासों एवं आदर्शों से नहीं वरन् तथ्यों से प्रारम्भ करने से है। जहाँ विचार निष्कर्षों से उद्भूत होते हैं वहाँ सीखना होता ही नहीं। मात्र जानकारी का संग्रह, जिसे ज्ञान कहते हैं, सीखना नहीं है। सीखने का अभिप्राय यह है कि समझने में अनुरक्ति हो एवं किसी चीज को स्वयं उसके लिए ही करने की लगन हो। सीखना तो केवल तभी संभव होता है जब किसी भी प्रकार की जोर-जबरदस्ती न हो। क्या जोर-जबरदस्ती

में हर प्रकार का प्रभाव निहित नहीं है, फिर चाहे वह स्नेह से हो या धमकी से हो, चाहे पीछे पड़कर प्रोत्साहन से हो या तीक्ष्ण या सूक्ष्म विवाद के रूपों द्वारा हो?

बहुत से लोग सोचते हैं कि तुलना की पद्धति से सीखने को प्रोत्साहन मिलता है, किन्तु तथ्य इसके बिल्कुल विपरीत है। तुलना से निराशा और मात्र ईर्ष्या पैदा होती है; और यही प्रतिस्पर्धा कहलाती है। अनुनय और अभिप्रेरणा के अन्य रूपों की तरह तुलना भी सीखने की क्रिया में बाधक होती है, और वह भय को जन्म देती है। महत्वाकांक्षा से भय पनपता है। महत्वाकांक्षा, चाहे व्यक्तिगत हो या सामूहिक, वह सदा समाज-विरोधी ही होती है। तथाकथित उदात्त महत्वाकांक्षाएँ भी अपने संबंधों में सदा विनाशकारी ही होती हैं।

यह आवश्यक है कि अच्छे मन के विकास को प्रोत्साहित किया जाए; ऐसा मन जो जीवन के विविध विषयों से, एक समग्र रूप में निपटने में सक्षम हो और जो उनसे पलायन का ऐसा प्रयत्न न करे जिससे कि वह अन्तर्विरोधी, निराश, कटु या आलोचक हो जाए। और यह भी आवश्यक है कि वह मन स्वयं पूर्वसंस्कारग्रस्तता, उद्देश्यों तथा अनुसरण के प्रति सजग रहे।

चूँकि हमारा प्रमुख उद्देश्य है अच्छे मन का संवर्द्धन, इसलिए यह बहुत महत्व का हो जाता है कि एक शिक्षक किस प्रकार पढ़ाए। जहाँ शिक्षक का प्रारंभिक उद्देश्य मन की समग्रता का संवर्धन है, न कि मात्र जानकारी प्रदान करना, वहाँ उसे वार्तालाप के विभिन्न तरीकों द्वारा ज्ञान या जानकारी प्रदान करनी होगी— खोज तथा स्वतन्त्र चिन्तन का आवाहन करना होगा। सीखने की क्रिया में किसी सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं

है। सत्ता अर्थात् वह व्यक्ति जो स्वयं को जानकार समझता है। शिक्षक और विद्यार्थी दोनों ही परस्पर के एक विशेष सम्बन्ध द्वारा सीख रहे हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि शिक्षक विचार की सुव्यवस्था की उपेक्षा करे। यह सुव्यवस्था मात्र उस अनुशासन से नहीं आ पाती है जो ज्ञान के निश्चयात्मक वक्तव्यों के रूप में होता है। किन्तु जब शिक्षक समझता है कि वह बुद्धि का संवर्धन कर रहा है तो वहाँ स्वभावत: स्वतन्त्रता की भावना होनी चाहिए। इस स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि जो आपको अच्छा लगे उसे करें या केवल परस्पर विरोधी भावना से ही सोचें, बल्कि ऐसी स्वतन्त्रता जिसमें मन को सजग होने में सहायता मिलती है, ताकि वह अपनी प्रेरणाएँ और एवं उद्देश्यों को परख सके— वे प्रेरणाएँ एवं उद्देश्य, जो छात्रों के सामने अपने विचारों एवं क्रियाओं द्वारा प्रकट होते हैं।

एक अनुशासित मन कदापि स्वतन्त्र मन नहीं होता है और न तो वह मन स्वतन्त्र है जिसने इच्छाओं को दबा दिया है। केवल वही मन स्वतन्त्र है जो इच्छाओं की समस्त गतिविधियों को भली प्रकार समझता है। अनुशासन उस गति को संचारित करता है जो विचार एवं विश्वासों के घेरे के भीतर होती है। क्या ऐसा नहीं है? ऐसा मन प्रज्ञावान् होने के लिए कदापि स्वतन्त्र नहीं है। ऐसा अनुशासन सत्ता के सम्मुख समर्पण कराता है या समाज की निर्धारित पद्धति में कार्य करने की क्षमता देता है, जो केवल कार्य की योग्यता चाहता है; वह उस प्रज्ञा को नहीं जगाता जिसकी अपनी क्षमता होती है। जिस मन ने केवल उस क्षमता का संवर्धन किया है जिसका माध्यम स्मृति है, वह एक आधुनिक यंत्र के समान है, गणक के समान है, जो कार्य करने की अद्भुत योग्यता एवं सुनिश्चितता रखता है।

आप्तवचन केवल कुछ निश्चित दिशाओं में सोचने को ही विवश करता है। सोचना यदि किसी निश्चित मार्ग या निष्कर्षों की ओर ही निर्देशित है तब तो वह सोचना है ही नहीं। वह तो केवल 'मानवीय यंत्र' की भाँति कार्य करना है, जो निरर्थक असंतोष उत्पन्न करता है और आती है उसके साथ निराशा तथा दुःख एवं वैसी ही अन्य चीजें। और यहाँ तो हम प्रत्येक मनुष्य की उच्चतम तथा पूर्णतम क्षमता के समग्र विकास को चाहते हैं। उस उच्चतम क्षमता के विकास को नहीं, जो अध्यापक के दिमाग में एक सुनिश्चित धारणा के रूप में है, अपितु उस क्षमता को चाहते हैं जिससे किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व खिल उठेगा।

किसी भी प्रकार की तुलना का भाव व्यक्ति के पूर्ण विकास में, चाहे वह वैज्ञानिक हो या माली, अवरोध उत्पन्न करता है। जहाँ तुलना का भाव नहीं है, वहाँ एक माली की और एक वैज्ञानिक की पूर्णतम क्षमता एक ही है; किन्तु जहाँ तुलना होने लगती है वहाँ तिरस्कार तथा ईर्ष्यायुक्त प्रतिक्रियाएँ होती हैं, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच संघर्ष कराती हैं। प्रेम तुलनात्मक नहीं है; दुःख की तरह उसकी भी तुलना नहीं की जा सकती कि यह अधिक है या कम है। दुःख तो दुःख ही है, चाहे वह निर्धन का हो या धनिक का हो। इसी प्रकार प्रेम भी है।

व्यक्ति के परिपूर्ण विकास से उस समाज का उद्भव होता है जहाँ समता है। वर्तमान समाज का संघर्ष, जो मात्र आर्थिक अथवा एक प्रकार के आध्यात्मिक स्तर पर समता लाने हेतु हो रहा है, उसका कोई भी अर्थ नहीं है। समता को लाने के लिए किए गए समाज-सुधार, कुछ दूसरे ही प्रकार के असामाजिक क्रियाकलाप को पैदा करते हैं। सम्यक् शिक्षा

हो तो सामाजिक अथवा अन्य सुधारों की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी, क्योंकि अपनी तुलनात्मक प्रवृत्तियों के साथ समस्त ईर्ष्या ही समाप्त हो जाएगी।

यहाँ हमें कार्य तथा पद की प्रतिष्ठा में अन्तर करना चाहिए। तुलना कर किसी कार्य को ऊँचा या नीचा करार देने से ही पद-प्रतिष्ठा का, अपनी समस्त भावनाओं तथा श्रेणीबद्ध प्रतिष्ठा-क्रम के साथ, जन्म होता है। जहाँ हर व्यक्ति की पूर्णतम क्षमता विकसित हो रही है वहाँ कार्य तथा पद की प्रतिष्ठा के बीच कोई विभाजन नहीं होता; वहाँ एक शिक्षक या एक प्रधानमंत्री के रूप में उस क्षमता की अभिव्यक्ति मात्र होती है और इस प्रकार पद के डंक का जहर ही समाप्त हो जाता है। आज समाज में नाम के पीछे बी० ए० अथवा पी-एच० डी० लगा लेने से कार्य अथवा तकनीकी क्षमता को मान्यता मिल जाती है, किन्तु हम तो मानव का समग्र विकास चाहते हैं; इसलिए ऐसे व्यक्ति अपने नाम के पीछे उपाधि लगाएँ अथवा न लगाएँ, किन्तु वे उपाधि पाने की क्षमता रखेंगे और यदि चाहें तो उपाधि हासिल करेंगे या न करेंगे। उसकी क्षमता को उपाधि से नहीं मापा जा सकता किन्तु वह स्वयं अपनी योग्यता को जान लेगा और उसकी अपनी क्षमता की अभिव्यक्ति आत्मकेन्द्रित विश्वास को नहीं पैदा करती जो केवल तकनीकी क्षमता से उत्पन्न होती है; ऐसा विश्वास तुलनात्मक है, और इसलिए समाज-विरोधी भी है। तुलना का अस्तित्व केवल उपयोगितावादी कार्यों के लिए होता है; यह शिक्षक के लिए नहीं है कि वह क्षमताओं में अन्तर करें एवं मूल्यांकन में कम या ज्यादा करें।

प्रारम्भ में विद्यार्थी को अपने विषयों के चुनाव की अनुमति नहीं

भी दी जा सकती है क्योंकि हम उसके व्यक्तित्व के समग्र विकास को चाहते हैं। यदि वह विषयों का चुनाव करता है तो उसका चुनाव क्षणिक सुखों, पूर्वाग्रहों और जो करना सर्वाधिक सरल है, उस पर आधारित होगा। यदि वह चयन करता है तो वह उस समाज की तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुसार चुनेगा। किन्तु जब हम बुनियादी चीज़ चाहते हैं और उसी का संवर्द्धन चाहते हैं तो अगर वह उस समय चुनाव करेगा तो वह स्वभावत: सर्वाधिक सरल विषय के अध्ययन तथा उसमें सफलता प्राप्ति हेतु नहीं चुनेगा, बल्कि यह सोचकर चुनेगा कि किस प्रकार वह अपनी क्षमताओं को पूर्णतम एवं उच्चतम हद तक प्रकट करे। हम मानसिक, बौद्धिक एवं भावात्मक समस्याओं सहित समग्र जीवन के अनेक प्रश्नों से निबटना चाहते हैं। और चूँकि विद्यार्थी को प्रारम्भ से ही जीवन की ओर उसके समग्र रूप में देखने में सहायता की जा रही है, इसलिए वह उससे भयभीत नहीं होगा।

किसी भी समस्या को पूर्ण रूप से सुलझाने की क्षमता ही प्रज्ञा है। छात्रों को श्रेणी तथा अंक प्रदान करने से प्रज्ञा का संवर्द्धन नहीं होता है, बल्कि इसके विपरीत इससे मानव गरिमा का ही पतन हो जाता है। इस तुलनात्मक मूल्यांकन से मन पंगु हो जाता है, जिसका अर्थ यह नहीं है कि अध्यापक प्रत्येक विद्यार्थी की प्रगति पर गौर न करे और उसकी रिपोर्ट न रखे। स्वभावत: अभिभावक अपने बच्चों की प्रगति जानने को उत्सुक रहते हैं। अत: वे उनकी प्रगति-रिपोर्ट चाहेंगे किन्तु यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि मनोवांछित फल को प्राप्त करने के लिए वे उस प्रगति-रिपोर्ट का उपयोग एक दबाव के रूप में करेंगे; फिर वह दबाव स्नेह का हो या धमकी भरा हो। अभिभावकों को चाहिए कि वे यह

समझें कि हम किस प्रकार की शिक्षा देना चाहते हैं। सामान्यत: वे अपने बच्चों को ऐसी उपाधि प्राप्त करते देखकर संतुष्ट हो जाते हैं, जिससे उनको अच्छी जीविका पाने का आश्वासन मिल सके। बहुत कम लोग हैं जो इससे अधिक की सोचते हैं। निश्चय ही वे अपने बच्चों को तथाकथित सुखी अवश्य देखना चाहते हैं। इस अस्पष्ट-सी इच्छा से अधिक चाहने वाले बहुत थोड़े से ही ऐसे लोग हैं जो बच्चों के समग्र विकास की चिन्ता करते हों। चूँकि उनमें से अधिक लोगों की तो यह अभिलाषा रहती है कि उनके बच्चे आजीविका की प्राप्ति में अच्छी तरह सफल हों, इसलिए वे या तो स्नेह से या भययुक्त दबाव देकर उन्हें पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करने को विवश करते हैं, और इस प्रकार पुस्तक का ही बहुत अधिक महत्व हो जाता है। इसके साथ मात्र स्मृति का ही संवर्द्धन हो पाता है— ऐसी स्मृति जो बगैर सही चिन्तन के, गुण की बुनियाद के बिना ही मात्र दोहराती रहती है।

हमारे अध्यापक को सबसे बड़ी जिस कठिनाई का सामना करना होता है वह है अभिभावक की व्यापक तथा गहन शिक्षा के प्रति उदासीनता। क्योंकि अभिभावक तो केवल उस ऊपरी ज्ञान को ही चाहते हैं जो उनके बच्चे को इस भ्रष्ट समाज में एक आदरणीय पद पर आसीन करा दे।

इस प्रकार, अध्यापक को केवल बच्चों को ही सही दिशा में शिक्षा नहीं देनी है बल्कि यह भी देखना होगा कि विद्यालय में जो कुछ भी किया गया है, अभिभावक उस पर पानी न फेर दें। वास्तव में विद्यालय एवं घर, दोनों ही सही शिक्षा के केन्द्र होने चाहिए। वे एक दूसरे के विरोधी न हों। ऐसा न हो कि अभिभावक की इच्छा तो कुछ और है

तथा अध्यापक उससे बिल्कुल भिन्न कुछ और ही कर रहे हैं। यह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है कि अभिभावक भी उससे भली प्रकार परिचित रहें जो शिक्षक द्वारा किया जा रहा है और बच्चों के सम्पूर्ण विकास में उन्हें भी गहरी दिलचस्पी हो। यह समान रूप से उनका भी उत्तरदायित्व है कि वे देखें कि इस प्रकार की शिक्षा का क्रम चलता रहे। वह इसे मात्र अध्यापक के ऊपर ही न छोड़ दें जो पहले से ही बहुत अधिक भार से लदे हुए हैं। यह समग्र विकास तभी संभव हो सकेगा जब अध्यापक, अभिभावक की कल्पनाओं एवं दुराग्रही माँगों को किसी भी परिस्थिति में स्वीकार नहीं कर सकता, इसलिए अभिभावकों को समझना चाहिए कि अध्यापक क्या कर रहे हैं और वे अपने बच्चों में भ्रम तथा उलझन न पैदा करें।

निश्चय ही बच्चे में प्रारम्भ से ही सीखने की प्रवृत्ति एवं स्वाभाविक जिज्ञासा रहती है, जिसको बुद्धिमानी के साथ प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए, ताकि जब वह बड़ा हो तो उसकी प्रवृत्ति बिना किसी विकृति के जीवन्त बनी रहे; जिससे विविध विषयों के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त होगा। यदि सीखने की इस उत्सुकता को सदैव प्रोत्साहन मिलता रहे तो गणित, भूगोल, इतिहास, विज्ञान या प्राणी-शास्त्र जैसे सारे विषय छात्र या अध्यापक के लिए समस्या नहीं बनेंगे। जहाँ सुखद स्नेह और समझदारी भरी देखभाल का वातावरण होता है, वहाँ सीखने की प्रक्रिया सरल हो जाती है।

भावात्मक खुलेपन और संवेदनशीलता का केवल वहीं संवर्द्धन हो सकता है जहाँ विद्यार्थी, अध्यापक के साथ सम्बन्धों में, अपने को सुरक्षित पाता है। अपनी सुरक्षा की भावना बच्चों की प्राथमिक माँग होती

है। परावलम्बी होने और सुरक्षित होने की भावना में बहुत बड़ा अन्तर है। बहुत-से शिक्षक जाने-अनजाने परावलम्बन की भावना का संवर्द्धन करते हैं और इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से भय को बढ़ावा देते हैं। अभिभावक भी स्नेहपूर्ण या आक्रामक रूप से यही करते हैं। बच्चे को 'क्या होना चाहिए' और 'क्या करना चाहिए' इस बारे में अभिभावकों द्वारा तानाशाही ढंग से एवं दुराग्रह के साथ किए गए प्रतिपादन में यह परावलम्बन साफ दिखाई पड़ता है। परावलम्बन के साथ सदैव भय की काली छाया बनी रहती है। और यही भय का भूत बच्चे को हर आज्ञा को चुपचाप मानने को विवश करता है। यही भय उसे समाज की हर बात को मानने तथा बड़ों के आदेश तथा हुक्म को स्वीकार करने को मजबूर करता है। परावलम्बन के इस वातावरण में संवेदनशीलता कुचल दी जाती है। किन्तु जब बच्चा जानता है और अनुभव करता है कि वह सुरक्षित है, तब असुरक्षा के भय के द्वारा उसका भावात्मक विकास अवरुद्ध नहीं होता। यह सुरक्षा, असुरक्षा की विरोधी चीज़ नहीं है। सुरक्षा का हमारा अभिप्राय अपने घर जैसे रहने की अनुभूति है— वह घर नहीं जहाँ से बच्चा आया है किन्तु ऐसा घर जहाँ वह अपने सहज स्वाभाविक रूप में 'जो वह है' उसी प्रकार रह सके; जहाँ वह 'ऐसा होने' या 'ऐसा न होने' को विवश नहीं किया जाता; जहाँ वह चाहे जब पेड़ पर चढ़ सकता है और गिर जाने पर उसे डाँट नहीं पड़ती; जहाँ शिक्षक, गृह-माता या गृह-संरक्षक बच्चे के समग्र कल्याण के लिए बड़ी गहराई के साथ चिन्ता करते रहते हैं— जिसे बच्चा प्रथम सम्पर्क में ही अनुभव कर लेता है।

सबसे महत्त्वपूर्ण तो यह है कि बच्चा प्रथम सम्पर्क में ही— कुछ सप्ताह या महीने के बाद नहीं— तत्काल यह अनुभव करने लगे कि वह

पूर्ण सुरक्षित है, जैसे अपने घर में ही है। यह प्रथम सम्पर्क ही सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। किन्तु अध्यापक अनेक तरीकों से उसका विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार बच्चे को स्वतन्त्रतापूर्वक मनचाहे कार्य करने की अनुमति देता है, तो अध्यापक परावलम्बन का संवर्द्धन कर रहा है और बच्चे को सुरक्षित होने की अनुभूति नहीं दे रहा है— वह अनुभूति कि वह अपने घर में ही है, जहाँ ऐसे लोग हैं जो उसके समग्र कल्याण के लिए गंभीरता से चिन्ता करते रहते हैं। इस नए सम्बन्ध का प्रथम दर्शन, जिसे छात्र ने पहले कभी नहीं पाया था— एक स्वाभाविक सुसंवाद पैदा करेगा— जिसमें छोटे, बड़ों की ओर उस निगाह से नहीं देखते हैं कि इनसे भय खाना होगा और इसीलिए इन्हें आदर भी देना होगा। एक बच्चा जो सुरक्षा का अनुभव करता है उसके आदर प्रदर्शित करने का ढंग एक अपने ही प्रकार का होता है जो सीखने के लिए आवश्यक है। इस आदर में किसी सत्ता या भय का कोई स्थान ही नहीं रहता है। इस सुरक्षा की भावना में चरित्र तथा व्यवहार बड़ों द्वारा थोपा नहीं जाता है। अपितु वह तो सीखने की प्रक्रिया का ही हिस्सा हो जाता है। चूँकि बच्चा अपने सम्बन्धों में अध्यापक तथा बड़ों के साथ सुरक्षित होता है, इसलिए वह स्वभावतः दूसरों का जिम्मेवारी के साथ ख्याल रखेगा। केवल ऐसी सुरक्षा के वातावरण में ही भावात्मक संवेदनशीलता का विकास हो सकता है। घर जैसी इस सुरक्षा के वातावरण में वह अपनी इच्छानुसार जो चाहता है करता है किन्तु मन के मुताबिक करने में वह इसे जान सकता है कि क्या करना ठीक है। यह क्रिया किसी प्रतिकारात्मक कृति के परिणाम के रूप में की जानेवाली क्रिया नहीं होती है, न हठ से की जानेवाली क्रिया होती है, न यह दबी हुई भावनाओं

का परिणाम होती है और न तो किसी तत्कालीन क्षणिक आवेग के कारण की हुई क्रिया ही होती है।

संवेदनशीलता का अभिप्राय अपने इर्द-गिर्द की सभी चीज़ों के प्रति संवेदनशील होना है। चाहे पौधे हों या पशु या पेड़ हों, चाहे आकाश, जल या उड़ता पक्षी हो; अपने इर्द-गिर्द के लोगों के विभिन्न भावों के प्रति संवेदनशीलता और राह चलते किसी अनजान राही के प्रति भी संवेदनशीलता हो। यह संवेदनशीलता उस भावना को लाती है जो स्वार्थ से रहित है, हेतु से रहित है और हिसाब-किताब से परे है। यही है सच्ची नैतिकता एवं सच्चा आचरण। अत: उसका आचरण गुप्त नहीं, मुक्त होगा। मुक्त होने के कारण अध्यापक का रंचमात्र भी सुझाव, बिना किसी संघर्ष या प्रतिरोध के, सरलता से स्वीकार किया जा सकता है।

चूँकि हम मानव का समग्र विकास चाहते हैं और उसकी भावनात्मक प्रेरणाएँ बौद्धिक तर्कों से बहुत अधिक बलशाली होती हैं, इसलिए हमें भावनात्मक क्षमता का संवर्द्धन करना चाहिए न कि उसे दबाना चाहिए। जब किसी में भावनात्मक तथा बौद्धिक मामलों में निपटने की क्षमता आएगी तो फिर उनका सामना करने में रंचमात्र भी भय नहीं रहेगा।

चूँकि हम मानव का समग्र विकास चाहते हैं, इसलिए संवेदनशीलता के संवर्द्धन के साधन के रूप में एकांत की बड़ी आवश्यकता होती है। जिस प्रकार गणित जानना आवश्यक है उसी प्रकार समग्र विकास की दृष्टि से यह भी जानना आवश्यक है कि एकांकी रहना क्या चीज़ है, ध्यान करना क्या चीज़ है, मरना क्या चीज़ है। एकांत क्या है, ध्यान क्या है— यह केवल इसकी खोज एवं अनुसंधान से ही जाना जा सकता है।

ध्यान, एकान्त तथा मृत्यु का अर्थ क्या है, यह जानना आवश्यक हो जाता है। इनके जो अर्थ हैं, वे सिखाए नहीं जा सकते, किन्तु सीखे अवश्य जा सकते हैं। कोई इसका संकेत मात्र दे सकता है, किन्तु उसी संकेत के द्वारा सीखना न तो ध्यान है, न तो एकांत ही है। किन्तु एकांत या ध्यान क्या है, यह जानने के लिए खोज की प्रवृत्ति होनी चाहिए, और यह खोज की प्रवृत्ति ही सीखने की प्रक्रिया के लिए आवश्यक है। जो मन जिज्ञासा की अवस्था में होता है वही सीखने में समर्थ है। किन्तु जब यह जिज्ञासा किसी पूर्व ज्ञान द्वारा या सत्ता द्वारा या दूसरे के अनुभव द्वारा दबा दी जाती है, तो सीखना मात्र अनुकरण बन जाता है। और अनुकरण केवल ऐसा मानव पैदा करता है जो सीखने की अनुभूति के बिना केवल तोता-रटंत ही करता रहता है।

अध्यापन, केवल जानकारी प्रदान करना नहीं है अपितु खोज करने वाले मन का संवर्द्धन करना भी है— ऐसा मन जो 'धर्म क्या है' जैसे प्रश्न की गहराई में उतर सके और केवल स्थापित धर्म, गिरजाघर या कर्मकाण्ड से ही संतोष नहीं कर ले। ईश्वर की खोज, सत्य की खोज या जो भी नाम आप देना चाहें, यही सच्चा धर्म है, न कि केवल विश्वास एवं सिद्धान्त को मान लेना। जैसे विद्यार्थी नित्य अपने दाँत साफ करता है, प्रतिदिन स्नान करता है, दिन के हर क्षण सीखा करता है, उसी प्रकार शान्तिपूर्वक किसी अन्य के साथ या स्वयं अकेले ही बैठने का भी काम होना चाहिए। यह एकान्त किसी के सिखाने से या परम्पराओं की बाहरी सत्ता की प्रेरणा से नहीं आता है या उनसे प्रेरित होकर भी नहीं आता है जो शान्त बैठना चाहते हैं किन्तु एकाकी होने में सक्षम नहीं है; यह एकान्त, मन की सहायता करता है कि दर्पण में देखने की भाँति स्पष्ट

रूप से वह अपने को देखे और ऐसे निरर्थक उद्योगों से मुक्त हो जाए जो महत्वाकांक्षा के कारण किए जाते हैं। महत्वाकांक्षा के साथ भय तथा निराशा की समस्त जटिलताएँ होती हैं जो अहंकेन्द्रित क्रियाओं की अभिव्यक्तियाँ हैं। यह एकान्त मन को ऐसी सुदृढ़ता, ऐसी स्थिरता देता है, जिसको 'काल' के माप से नापा नहीं जा सकता। मन का 'चरित्र' यही है। चरित्र का अभाव ही अंतर्विरोध की स्थिति है।

संवेदनशील होना यानी प्रेम करना है। 'प्रेम' शब्द वास्तविक प्रेम नहीं है। प्रेम को विभाजित नहीं किया जा सकता है, जैसे कि ईश्वर का प्रेम तथा मनुष्य का प्रेम। प्रेम मापा भी नहीं जा सकता है कि एक का प्रेम या अनेक का प्रेम। प्रेम यानी अपना सब कुछ दे देने की क्षमता है, जैसे एक फूल किसी को भी सब कुछ दे देता है। किन्तु हम लोग हमेशा इसे अपने सम्बन्धों में मापते हैं और इसलिए उसे नष्ट कर देते हैं। प्रेम वस्तुतः समाज-सुधारक या सामाजिक कार्यकर्ता की कोई ऐसी चीज़ भी नहीं है जो खरीदी-बेची जा सके। यह कोई ऐसा राजनीतिक साधन भी नहीं है जिससे क्रिया का उद्भव होता है। जब समाज-सुधारक या राजनीतिज्ञ इसका उपयोग करते हैं जो वे इस शब्द मात्र का उपयोग करते हैं और वे इसकी वास्तविकता को कदापि स्पर्श नहीं कर सकते। क्योंकि प्रेम का किसी साध्य के लिए साधन के रूप में उपयोग नहीं किया जा सकता है, चाहे वह साध्य तात्कालिक हो या सुदूर भविष्य का हो। यह समस्त पृथ्वी का प्रेम है न कि उसमें से किसी एक छोटे प्रक्षेत्र का; वास्तविकता के प्रति प्रेम किसी धर्म से आवृत नहीं होता। और जब संगठित धर्म इसका उपयोग करते हैं तो उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। समाज, संगठित धर्म तथा तानाशाही की सरकार, अपनी विभिन्न क्रियाओं द्वारा

अनजाने में ही उस प्रेम को विनष्ट कर देते हैं। प्रेम कार्य करने में तीव्र आवेग बन जाता है।

और चूँकि हम सही शिक्षा द्वारा मानव का सम्पूर्ण विकास करना चाहते हैं, इसलिए प्रारम्भ से ही प्रेम के गुण का पोषण और संवर्द्धन होना चाहिए। प्रेम न तो निष्ठा है और न भावुकता ही है। यह वैसा ही बलशाली है, जैसी कि मृत्यु। यह ज्ञान द्वारा खरीदा नहीं जा सकता है। और ऐसा मन जो केवल ज्ञान पाने की अभिलाषा से ही ज्ञानार्जन के पीछे लगा है वह निर्दयता के साथ ही व्यवहार करता रहता है और केवल कार्यकुशलता के लिए ही कार्य करता रहता है।

इसलिए शिक्षक को बिल्कुल प्रारम्भ से ही प्रेम के गुण की ओर ध्यान देना चाहिए। प्रेम यानी विनम्रता, मृदुता, दूसरों का ख्याल रखना, धैर्य तथा शिष्टता है। सही और अच्छी शिक्षा पाए हुए मनुष्य के स्वभाव में शिष्टता और शालीनता होती ही है। अपने इर्द-गिर्द की सभी चीजों का वह ख्याल रखता है, चाहे वे पौधे हों या पशु हों, और यह उसके व्यवहार तथा बातचीत के ढंग में प्रकट होता है।

क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी वस्तुओं के प्रति संवेदनशीलता का संवर्द्धन शैशवकाल से ही किया जाए, फिर चाहे वह वृक्ष हो, मनुष्य हो, फर्नीचर हो या नवीनतम मोटरगाड़ी हो? प्रेम के गुण पर जोर देने से या विशेष महत्त्व देने से संवेदनशीलता आती है और एक ऐसे मन का सृजन होता है जो अपनी महत्वाकांक्षा, लोभ तथा परिग्रह की वृत्ति में ही डूबा हुआ नहीं रहता है। क्या वह अपने चारों ओर सुसंस्कृति उत्पन्न नहीं करता है जिसकी अभिव्यक्ति केवल सुरुचि तथा आदर की

भावना में ही नहीं होती है अपितु उससे मन भी परिशुद्ध हो जाता है? अन्यथा क्या मन की प्रवृत्ति अभिमान में मजबूती से बने रहने की नहीं है? कपड़े में, बातचीत में, व्यवहार में, इन सब में सुसंस्कृति अपने ऊपर लादी हुई चीज़ नहीं है और न तो यह वाह्य माँग ही है अपितु यह प्रेम के गुण के साथ आती है। इस गुण को ठीक से समझने से काम-वासना या अन्य मानवीय सम्बन्धों की उलझनें एवं बारीकियाँ, उत्तेजना एवं आशंकाओं के साथ नहीं, अपितु समझदारी और विवेक के साथ सुलझाई जा सकती हैं।

जो शिक्षक मानव के समग्र विकास को सर्वाधिक महत्ता की वस्तु मानते हैं, उन्हें चाहिए कि प्रारम्भ से ही, काम-वासना के निहितार्थों की ओर ध्यान दें; उसके बारे में बच्चों के भीतर विकृत दिलचस्पी को जगाए बिना, उनकी जिज्ञासा का ठीक से समाधान करते रहें। चूँकि व्यक्ति के जीवन में काम-वासना का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसलिए किशोरावस्था में ही उसका जीव-वैज्ञानिक ढंग से परिचय कराने या जानकारी देने से वह प्रेम के गुण की अनुभूति के अभाव में मात्र प्रायोगिक वासना का रूप ले सकता है। प्रेम मन की सारी बुराई को धो डालता है। शिक्षक के भीतर प्रेम और समझ के अभाव में केवल बालक एवं बालिकाएँ एक दूसरे से कँटीले तार द्वारा अलग कर दिए जाएँ या कड़े नियमों से अनुशासित किए जाएँ, तो उससे उनके अन्दर उत्सुकता तथा वासना का आवेग ही बलवान बनेगा और मात्र इच्छापूर्ति में उसका पतन होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि बालक और बालिकाओं को साथ-साथ सही रूप में शिक्षित किया जाए।

प्रेम का यह गुण, किसी भी कार्य को अपने हाथों करने में अभिव्यक्त

होगा ही, चाहे वह कार्य बागवानी का हो या बढ़ईगिरी, चित्रकारी या हस्तशिल्प, या और कुछ भी हो। यह गुण नेत्रों तथा कानों के माध्यम से भी अभिव्यक्त होता है, जैसे वृक्षों को, जल प्रवाह को, वसुधा के वैभव को तथा उस दरिद्रता को जिसे मनुष्यों ने स्वयं अपने बीच पैदा किया है, देखना; पक्षियों के संगीत एवं गीत को सुनना।

हम केवल मन तथा भावात्मक संवेदनशीलता की ही ओर ध्यान नहीं देंगे बल्कि उत्तम शरीर-स्वास्थ्य की ओर भी बहुत ध्यान देंगे। क्योंकि यदि शरीर स्वस्थ तथा प्राणवान् नहीं है तो स्पष्ट है कि वह विचार में भी विकृति लाएगा और असंवेदनशीलता को बढ़ाएगा। यह एक सुस्पष्ट तथ्य है जिसके विस्तार की आवश्यकता नहीं है। यह आवश्यक है कि सही भोजन किया जाए, पर्याप्त नींद ली जाए और शरीर का स्वास्थ्य उत्तम हो। यदि इन्द्रियाँ सजग एवं संवेदनशील नहीं हैं तो शरीर मानव के समग्र विकास में बाधा डालेगा। माँसपेशियों के संतुलित नियंत्रण एवं उनकी गतिविधि और क्रिया में शोभा बनाए रखने के लिए अनेक प्रकार के व्यायाम, नृत्य, योगासन तथा खेल जरूरी हैं। जो शरीर साफ-सुथरा नहीं है, जो ठीक आसन में अपने को रख नहीं सकता है, जो बेढंगा है, वह मन एवं भावनाओं की संवेदनशीलता का संवाहक नहीं बन सकता है। शरीर, मन का उपकरण नहीं है। परन्तु शरीर, भावनाएँ और मन सभी मिलकर पूर्ण मानव बनता है, और इन सब में संगति और सामंजस्य न हो तो संघर्ष और द्वन्द्व अनिवार्य है। संघर्ष, असंवेदनशीलता को बढ़ाता है। मन, शरीर पर नियंत्रण या आधिपत्य रख सकता है, इन्द्रियों का दमन करते हुए शरीर को असंवेदनशील बना सकता है। ऐसा असंवेदनशील शरीर मन की पूर्ण उड़ान में बाधक बनता है। शरीर का

जबरदस्ती से किया हुआ दमन कभी भी चेतना के गहनतर स्तर के अन्वेषण में सहायक नहीं बन सकता है। वह अन्वेषण तभी संभव होता है जब मन, भावनाएँ और शरीर के बीच विसंवाद या परस्पर विरोध न हो, बल्कि वे बिना प्रयास के, किसी धारणा, विश्वास एवं आदर्श से प्रेरित हुए बिना अखंडता और सामंजस्य में रहें।

मन के संवर्द्धन में एकाग्रता पर नहीं अपितु सजगता पर बल देना चाहिए। मन को एक बिन्दु पर जबरदस्ती केन्द्रित करने की प्रक्रिया को एकाग्रता कहते हैं, जबकि सजगता एक असीम चीज़ है। एकाग्रता सीमित शक्ति है, जो सदा सीमाओं तथा मर्यादाओं के बीच रहती है, किन्तु जब हम मन की समग्रता का बोध प्राप्त करना चाहते हैं तो केवल एकाग्रता बाधक बन जाती है, जबकि सजगता असीम होती है, ज्ञान की सारी सीमाओं से परे होती है। ज्ञान एकाग्रता द्वारा आता है, और ज्ञान का विस्तार भी उसी एकाग्रता की सीमा के अन्दर ही होता है। सजगता की अवस्था में मन ज्ञान का प्रयोग कर सकता है, और करता भी है, वह ज्ञान जो एकाग्रता द्वारा प्राप्त किया गया है। अंश कभी पूर्ण नहीं होता है, और बहुत से अंशों को साथ जोड़ना समग्र की दृष्टि नहीं देता है। और ज्ञान तो एकाग्रता की, जोड़-तोड़ कर संग्रह करने वाली प्रक्रिया मात्र है, इसलिए वह 'अपरिमेय' का बोध नहीं करा सकता है। जो 'समग्र' है वह किसी एकाग्र मन के सीमित स्थान में कदापि समाया नहीं जा सकता। सजगता प्राथमिक महत्त्व का विषय बन जाती है, क्योंकि हम मानव तथा उसके मन के समग्र विकास को चाहते हैं। यह सजगता एकाग्रता के प्रयत्न से नहीं आती; बल्कि यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें मन, बिना किसी केन्द्र के— जिस केन्द्र के चारों ओर अनुभव के रूप

में ज्ञान एकत्र होता है— सदा सीखता रहता है। ऐसा मन जो स्वयं अपने ऊपर केन्द्रित है, वह ज्ञान का प्रयोग आत्म-प्रसार के साधन के रूप में करता है, और इस प्रकार ऐसी क्रिया अंतर्विरोधी एवं असामाजिक बन जाती है।

सच्चे अर्थ में सीखना तभी सम्भव होता है जब हम सजगता की उस अवस्था में होते हैं जहाँ किसी प्रकार की बाहरी या भीतरी बाध्यता नहीं होती है। जब मन परम्परा तथा स्मृति से बँधा नहीं होता, तभी सही चिन्तन हो सकता है। सजगता में ही मन के भीतर मौन का अवतरण होता है, जो सृजन के द्वार को खोलता है। इसीलिए सजगता सर्वोच्च महत्व की चीज़ है।

ज्ञान प्रायोगिक स्तर पर केवल मन के संवर्द्धन के एक साधन के रूप में ही आवश्यक है न कि यह स्वयं में एक साध्य है। हम मात्र किसी एक क्षमता के विकास की ही चिन्ता नहीं करते, जैसे गणितज्ञ या वैज्ञानिक या संगीतज्ञ की क्षमता, अपितु विद्यार्थी के समग्र विकास की चिन्ता करते हैं— जिसमें ये सभी चीज़ें सम्मिलित हैं।

सजगता की यह अवस्था लाई कैसे जाती है? यह किसी भी प्रकार के समझाने द्वारा, किसी भी रूप से तुलना द्वारा, पुरस्कार या दण्ड द्वारा संवर्धित नहीं की जा सकती। ये सभी जोर-जबरदस्ती के ही तरीके हैं। भय की निवृत्ति ही सजगता का प्रारम्भ है। भय की अवस्था तब तक बनी रहेगी जब तक कुछ 'होने की' या 'बनने की' लालसा बनी रहती है, जो सफलता में परिणत होती है और जिसके साथ सभी हताशाएँ तथा पीड़ादायक परस्पर विरोध जुड़े हुए हैं। सजगता को सिखाया नहीं जा

सकता, जैसे आप एकाग्रता को सिखा सकते हैं। आप यह भी सिखा नहीं सकते कि भय से कैसे मुक्त हों— किन्तु हम भय पैदा करने वाले कारणों की खोज प्रारम्भ कर सकते हैं और इन सभी कारणों के समझने में ही भय की समाप्ति होती है। अस्तु, सजगता का आगमन तभी होता है जब विद्यार्थी के चारों ओर के वातावरण में भौतिक कल्याण हो, सुरक्षा की भावना हो एवं घर जैसा परिवेश हो जिसकी हम पहले चर्चा कर चुके हैं— और आसक्ति रहित कार्य के साथ आने वाला प्रेम हो। प्रेम तुलना नहीं करता है, और इसलिए कुछ 'बनने की' यातना का भी अन्त हो जाता है।

सामान्य असंतोष, जो हम सभी अनुभव करते हैं, चाहे हम युवक हों अथवा वृद्ध, मन शीघ्र ही संतोष का मार्ग ढूँढ लेता है; और इस प्रकार हमारा मन सुला दिया जाता है। समय-समय पर दुःख के द्वारा असंतोष का जन्म होता है, और वह दुःख पुनः कुछ समाधान ढूँढता है जिससे संतोष आएगा। इस प्रकार संतोष और असंतोष के इस चक्र में मन बँध जाता है और पीड़ा के द्वारा जो जागृति आती है वह हमारे असंतोष का ही अंग है। असंतोष, खोज करने का एक मार्ग है। और वहाँ खोज नहीं हो सकती जहाँ मन परम्परा तथा आदर्शों से आबद्ध होता है। जिज्ञासा और खोज ही सजगता की ज्वाला है।

असंतोष से हमारा अर्थ मन की उस स्थिति से है जो उस चीज़ को समझता है जो वस्तुतः है और आगे पता लगाने के लिए खोज जारी रखता है। 'जो है' की सीमाओं से परे जाने की गति ही असंतोष है। यदि आप इस असंतोष को दबाते हैं या इस पर विजय प्राप्त करने के साधनों और मार्गों को ढूँढते है, तो आप अहं-केन्द्रित क्रियाओं की

सीमाओं को तथा उस समाज को जिसमें आप अपने को पाते हैं, स्वीकार करेंगे। असंतोष तो वह ज्वाला है जो संतोष के कूड़े-करकट को जला देती है किन्तु हम इस असंतोष का अपव्यय विभिन्न ढंगों से कर लेते हैं। हमारा असंतोष तब 'और अधिक' की खोज बन जाता है, अर्थात् एक बड़े मकान, एक बेहतर कार आदि की इच्छा और यह सब ईर्ष्या के क्षेत्र की वस्तुएँ हैं, और यह ईर्ष्या इस तरह के असंतोष को जीवित रखती है। किन्तु हम उस असंतोष की बात कर रहे हैं जिसमें ईर्ष्या तथा 'और अधिक' का लोभ नहीं है यानी यह असंतोष संतोष की इच्छा से पोषित नहीं होता है। यह असंतोष एक अप्रदूषित स्थिति है जो हम सभी में विद्यमान है, यदि इसे गलत शिक्षा या किसी संतोषप्रद समाधान द्वारा निष्प्राण न बना दिया गया है। जब हम वास्तविक असंतोष के स्वरूप को समझ लेते हैं तब हम देखेंगे कि सजगता उस प्रज्ज्वलित ज्वाला का ही अंश है जो क्षुद्रता को जला देती है और मन को अहं-परिमित कार्यों तथा आत्म-संतोष की सीमाओं से मुक्त कर देती है। अस्तु सजगता का उदय वहीं होता है जहाँ ऐसी खोजबीन होती है जो आत्म-प्रगति या आत्म-संतोष पर आधारित नहीं होती। इस सजगता का संवर्द्धन प्रारम्भ से ही होना चाहिए। आप पाएँगे कि जब प्रेम होता है, जो विनम्रता, शिष्टता, धैर्य तथा भद्रता के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करता है, तो आप उन अवरोधों से तत्काल मुक्त हो जाते हैं, जो असंवेदनशीलता से पैदा होते हैं। और इस प्रकार आप बच्चे में शैशवावस्था से ही सजगता की अवस्था उत्पन्न करने में सहायता करते हैं।

सजगता सिखाई नहीं जा सकती है, किन्तु आप छात्र-मानस में उसके पदार्पण में सहायता अवश्य कर सकते हैं, जबकि उनके चारों ओर

बाध्यता की भावना नहीं होती और इसीलिए कोई भी परस्पर विरोधात्मक वातावरण नहीं होता है। तब उनकी सजगता किसी भी क्षण किसी भी दिए हुए विषय पर केन्द्रित हो सकती है; किन्तु यह वह एकाग्रता नहीं है जो प्राप्ति या सिद्धि की बाध्यताकारी प्रेरणा के द्वारा लाई जाती है।

इस प्रकार शिक्षित की गई पीढ़ी अपने माता-पिता एवं समाज, जिसमें वह पैदा हुई है, की मानसिक विरासत से मुक्त होगी। और चूँकि वे इस प्रकार शिक्षित हुए हैं इसलिए सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर भी वे आश्रित नहीं रहेंगे। उत्तराधिकार का यह तत्व स्वतन्त्रता को नष्ट कर देता है, और प्रज्ञा को भी सीमित कर देता है; क्योंकि इसमें एक झूठी सुरक्षा की भावना पैदा होती है, जो ऐसा आत्मविश्वास दिलाती है जिसका कोई आधार ही नहीं होता है। सुरक्षा की यह झूठी भावना एक ऐसा मानसिक अंधकार है जिसमें कुछ भी पनप नहीं सकता है। पूर्णतया भिन्न प्रकार से शिक्षित हुई पीढ़ी— जिसके विषय में हम बात करते आ रहे हैं— एक नए समाज का सृजन करेगी; क्योंकि उसके पास प्रज्ञा से उत्पन्न हुई क्षमता होगी— ऐसी प्रज्ञा जो भय द्वारा सीमाबद्ध नहीं है।

चूँकि हम विद्यार्थी के किसी एक विशेष पक्ष को नहीं बल्कि उसका सम्पूर्ण विकास चाहते हैं, इसलिए सजगता, जो सर्व समावेशक है, महत्त्वपूर्ण हो जाती है। यह समग्र विकास की बात कल्पना मात्र नहीं है— अर्थात् मानव मन की समग्रता की कोई सुनिश्चित रूपरेखा नहीं है। मन जितना ही अधिक अपना उपयोग करता है उतना ही अधिक क्षमतायुक्त होता है। मन की क्षमता अनन्त है, असीम है।

चूँकि शिक्षा किसी एक का कार्य नहीं अपितु बहुतों का सम्मिलित और सामूहिक कार्य है (अभिभावक तथा शिक्षक दोनों का) अतएव

साथ-साथ कार्य करने की कला सीखनी ही होगी। यह साथ काम करना तभी होता है जब हममें से हर कोई देखता है कि सत्य क्या है। अभिमत, विश्वास या सिद्धान्त नहीं बल्कि सत्य ही हमको साथ लाता है। तथ्य तथा अवधारणा में महान् अन्तर है। अवधारणा हमें तनिक देर के लिए साथ ला सकती है, किन्तु जहाँ केवल मत या विश्वास के लिए कोई कार्य साथ-साथ किया जा रहा है वहाँ अलगाव पुनः पैदा हो जाएगा। यदि सत्य का दर्शन हो जाता है तो सम्भव है कि किसी चीज़ की बारीकियों में असहमति हो जाए किन्तु वहाँ अलगाव की इच्छा कभी नहीं होगी। छोटी-मोटी बातों पर बिखर जानेवाले मूर्ख ही होते हैं। वे छोटी-मोटी बारीकियाँ कभी भी ऐसा विषय नहीं बन सकती हैं जिन पर मतभेद हो जाए। एक धारणा या एक आदर्श के अनुसार काम करने हेतु हम लोग साथ आ सकते हैं; किन्तु ये तथ्य नहीं होते हैं, इसलिए निष्ठा, बार-बार समझाना एवं प्रचार आदि की इन्हें आवश्यकता होती है; और हममें से अधिकांश लोग सत्ता के इन्हीं स्थापित मार्गों पर साथ-साथ कार्य करने के अभ्यस्त हैं।

किसी धारणा या आदर्श के लिए साथ-साथ कार्य करना, और वह कर्म जो सत्य-दर्शन की परिणति है तथा कर्म में उस सत्य की आवश्यकता, ये दोनों पूर्णतः भिन्न क्रियाएँ हैं। सत्ताजन्य उत्तेजना से कार्य करते रहना सहयोग नहीं है, चाहे वह आदर्श की सत्ता हो या किसी ऐसे व्यक्ति की सत्ता जो उस आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें एक केन्द्रिय सत्ता है जिसके पास ज्ञान है या जिसका शक्तिसम्पन्न व्यक्तित्व है, जिसके अपने कुछ विचार हैं, और फिर वह प्रभुत्व जमाता है, प्रच्छन्न रूप से या अन्य तरीके से, जिसे वह आदर्श कहता है और उसके साथ

सहयोग करने के लिए दूसरों को विवश करता है। यह साथ-साथ कार्य करना नहीं कहा जाएगा। किन्तु जब कुछ बातों की सच्चाई को हममें से प्रत्येक समझ लेता है तब वह सच्चाई की समझ ही हमें उन बातों को कार्य में उतारने हेतु साथ-साथ लाती है। यही सहयोग है। और जिसने भी इस सहयोग को सीख लिया है— क्योंकि वह सत्य को सत्य के रूप में ही देखता है, असत्य को असत्य के रूप में ही देखता है तथा असत्य में भी जो सत्य होगा उसे भी देखता है— वह आवश्यकतानुसार सहयोग 'नहीं करना' भी जान लेगा जो एक वैसी ही महत्त्वपूर्ण बात है जैसी कि सहयोग करना।

यदि हममें से प्रत्येक को इस बात की आवश्यकता स्पष्टत: प्रतीत होती है कि शिक्षा में एक मौलिक क्रान्ति जरूरी है और यदि हमें उस सत्य का साक्षात् हो जाता है जिसकी हम चर्चा करते रहे हैं, तो हम बिना सहमति या असहमति के, बिना किसी अनुनय के, साथ-साथ कार्य करेंगे। समझाने-बुझाने की नौबत तभी आती है जब कोई व्यक्ति एक दृढ़ रवैया अपना लेता है जिससे वह हटना नहीं चाहता। जब किसी विचार में उसे विश्वास हो जाता है अथवा किसी राय को मजबूती से पकड़े रखता है, तब वह विरोध को पैदा करता है; और जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो दो में से किसी एक को भिन्न ढंग से सोचने के लिए राजी करना पड़ता है या प्रभावित और प्रेरित करना पड़ता है। यदि हममें से प्रत्येक को सत्य का दर्शन हो जाए तो ऐसी स्थिति कभी नहीं आएगी। तब वह मात्र शाब्दिक दृढ़ विश्वास नहीं होगा या एक बौद्धिक तर्क से किया गया अमल नहीं होगा, अपितु सत्य का बोध होगा। यदि हमें सत्य का दर्शन नहीं होता है तब तो वहाँ विवाद होगा ही; अपने

समस्त निरर्थक एवं विकृत करने वाले प्रयासों के साथ आने वाली सहमति या असहमति होगी ही। यह आवश्यक है कि हम साथ-साथ कार्य करें मानो हम साथ-साथ किसी भवन का निर्माण कर रहे हों। यदि हममें से कोई बना रहा है और दूसरा ढहा रहा है तो भवन नहीं बनेगा। अतः हममें से प्रत्येक के सामने यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हम इस आवश्यकता को वस्तुतः देखते और समझते हैं कि उस शिक्षा का जन्म हो जो एक नई पीढ़ी का निर्माण करे— ऐसी पीढ़ी जो जीवन के प्रश्नों को समग्रतापूर्वक सुलझाने में समर्थ हो न कि उन्हें ऐसे अलग-अलग खण्डों में बाँटे जो समग्र से जुड़े हुए न हों।

इस प्रकार सहयोगपूर्ण ढंग से साथ-साथ कार्य करने के लिए हम लोगों की अक्सर बैठकें होनी चाहिए, और यह सावधानी भी रखनी चाहिए कि हम किसी चीज़ के विस्तार में ही कहीं खो न जाएँ। हममें से जो लोग गंभीरता से सही ढंग से शिक्षा को जन्म देने के प्रति समर्पित हैं उन पर केवल यही जिम्मेदारी नहीं है कि उसको कार्य रूप दें जिसे हमने समझ लिया है, बल्कि उन्हें यह भी देखना है कि दूसरे लोगों को भी यह बोध हो। यदि इसे पेशा कहा जा सकता है तो शिक्षण-कार्य सबसे उदात्त पेशा है। शिक्षण-कला के लिए विशेष बौद्धिक क्षमता की आवश्यकता नहीं है बल्कि अनन्त धैर्य एवं प्रेम की आवश्यकता है। क्या सच्चे अर्थों में शिक्षित होने का यह अर्थ नहीं है कि सभी चीज़ों के साथ सम्बन्धों का— सभी चीज़ों के साथ अर्थात् धन, सम्पत्ति, लोग, प्रकृति आदि अस्तित्व के विशाल क्षेत्र की सभी चीज़ों के साथ अपने सम्बन्धों का— हमें बोध हो?

मात्र समानुपात, आकार, रुचि तथा व्यवहार ही सौन्दर्य नहीं है।

सौन्दर्य तो मन की वह स्थिति है जिसमें सरलता के आवेग के कारण 'स्व' का केन्द्र विसर्जित हो गया है। इस सरलता और सादगी का कोई लक्ष्य नहीं है और यह वहीं होती है जहाँ ऐसा संयम हो जो सुविचारित अनुशासन और आत्मनिषेध का परिणाम नहीं है। यह संयम आत्मविसर्जन है जिसका जन्म प्रेम से ही हो सकता है। इस प्रेम के अभाव में हम एक ऐसी सभ्यता का सृजन करते हैं जिसमें सरल आत्मविसर्जन के संयम और इसी जीवंतता के बिना केवल रूप और आकार के सौन्दर्य की खोज की जाती है। जहाँ आदर्शों, विश्वासों तथा अच्छे कार्यों में स्वयं का बलिदान किया जाता है, वहाँ आत्मविसर्जन घटित नहीं होता। ये क्रियाएँ अहम् से मुक्त प्रतीत होती हैं, किन्तु वास्तव में वहाँ भी अहम् विभिन्न नामों के आवरण में काम करता रहता है। केवल निश्छल और निर्दोष मन ही 'अज्ञात' की खोज कर सकता है। किन्तु सुविचारित निश्छलता और सादगी, जैसे एक साधु या फकीर के भेस में, कभी उस आत्मविसर्जन के आवेग के समीप नहीं आ सकती, जिससे शिष्टता, सज्जनता, विनम्रता एवं धीरज आता है— जो प्रेम की ही अभिव्यक्तियाँ हैं।

हम सुन्दरता को जानते हैं केवल उन चीज़ों के द्वारा जो या तो बनाई गई हैं या जोड़ कर रखी गई हैं— चाहे वह मानव रूप की सुन्दरता हो, चाहे किसी मन्दिर की हो। हम कहते हैं कि वह वृक्ष, वह मकान, वह नदी जो चौड़ाई लिए मुड़ रही है, सुन्दर है। और तुलना करने के कारण हम उन चीज़ों को भी जानते हैं जो सुन्दर नहीं हैं— कम से कम हमें लगता तो है ही कि हम उन्हें जानते हैं। क्या सुन्दरता तुलनात्मक है? क्या सुन्दरता वह है जिसे प्रत्यक्ष या साकार बनाया गया है? हम कहते हैं कि यह चित्र, कविता, चेहरा सुन्दर है, क्योंकि हमें जो सिखाया

गया है उसके अनुसार हम पहले से ही उसे जानते हैं, समझते हैं या हम उससे परिचित हैं या उसके विषय में हम एक धारणा बनाये हुए हैं। और क्या तुलना के कारण सुन्दरता का अंत नहीं हो जाता है? क्या सौन्दर्य का अर्थ है मात्र 'ज्ञात' से परिचित होना अथवा यह अस्तित्व की वह अवस्था है जिसमें कोई साकार रूप हो भी सकता है या नहीं भी हो सकता है।

हम लोग सदा सुन्दरता के पीछे पड़ते हैं और कुरूपता से बचना चाहते हैं; और यह एक से बचना और दूसरे में समृद्धि को ढूँढना अनिवार्यत: असंवेदनशीलता पैदा करेगा। सुन्दरता को समझने और अनुभव करने के लिए तथाकथित सुन्दरता एवं तथाकथित कुरूपता दोनों के प्रति संवेदनशीलता निश्चित रूप से आवश्यक है। एक भावना सुन्दर या कुरूप नहीं होती है; वह तो केवल भावना मात्र है। जब हम अपने धार्मिक और सामाजिक संस्कारों से इसे देखते हैं, तभी हम कहते हैं कि यह अच्छी भावना है, वह बुरी भावना है और इस प्रकार हम भावना को विनष्ट या विकृत कर देते हैं। किन्तु वह भावना, जिस पर अच्छे या बुरे का नाम नहीं लगा दिया जाता है, वह अत्यन्त गहन और उत्कट रहती है। यही वह उत्कटता का आवेग है जो उस चीज़ को समझने हेतु आवश्यक है, जो न तो प्रकट साकार सौन्दर्य है और न तो कुरूपता ही है।

जिस चीज़ पर हम जोर दे रहे हैं वह है निरन्तर टिकनेवाला भाव अर्थात् वह आवेग जो मात्र 'स्व' की परितुष्टि की वासना नहीं है। यही आवेग सुन्दरता की सृष्टि करता है और चूँकि वह अतुलनीय है, इसलिए उसका विपरीत नहीं है।

चूँकि हम मानव का सम्पूर्ण विकास चाहते हैं, इसलिए हमें केवल चेतन मन का ही ध्यान नहीं रखना है, अपितु अचेतन का भी ध्यान रखना है। बिना अचेतन को समझे केवल चेतन की शिक्षा, मानव जीवन में दु:ख एवं निराशा-भरा परस्पर विरोध पैदा करती है। बाहरी मन की अपेक्षा भीतर का छिपा हुआ मन कहीं अधिक जीवंत होता है। बहुत से शिक्षक उस बाहरी सतही मन को ही शिक्षित करने की ओर ध्यान देते हैं तथा उसकी ही जानकारी देते हैं, जो ज्ञान कहलाता है, जिससे कोई जीविका प्राप्त कर ले और वह अपने को समाज के अनुकूल बना ले। इस प्रकार छिपे हुए मन को कभी स्पर्श ही नहीं किया जाता है। सभी शिक्षकों ने अब तक जो कुछ किया है वह बस इतना ही कि तकनीकी ज्ञान की एक परत उस मन पर थोपी है और उसे इर्द-गिर्द के वातावरण के अनुकूल बन जाने की क्षमता दी है।

किन्तु चूँकि हम मानव का समग्र विकास चाहते हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि हम उस छिपे हुए मन की स्थिति को भी समझें। बाहरी मन को चाहे कितना भी शिक्षित किया जाए या उसे सामंजस्य हेतु भी समर्थ बनाया जाए, परन्तु उस मन की अपेक्षा यह छिपा हुआ मन बहुत अधिक शक्तिशाली होता है। अप्रकट मन कोई बहुत रहस्यपूर्ण चीज़ नहीं है। यह अवश्य ही जातीय स्मृतियों का संग्रह है— धर्म, अंधविश्वास, प्रतीक, किसी विशेष जाति की परम्परा, उसके साहित्य का प्रभाव, चाहे वे पवित्र हों या अपवित्र। यह कोष है— किसी एक विशेष समूह के सामूहिक प्रभाव का, जिसकी अपनी ही विशेष परम्पराओं के साथ आकांक्षाएँ एवं निराशाएँ, प्रतीक, विशिष्ट तौर-तरीके और भोजन के विविध प्रकार हैं। अपने उद्देश्यों के साथ प्रकट तथा गुप्त इच्छाएँ, निराशाएँ

एवं उनकी आशाएँ, भय, गुप्त दु:ख तथा सुख और वे विश्वास जो सुरक्षा की आकांक्षा द्वारा जीवित रहते हैं तथा जो विभिन्न रूपों में परिणत होते हैं— इसका भी वह कोष है। यह अप्रकट मन केवल इन सब अतीत के अवशेषों के संग्रह की ही असाधारण क्षमता नहीं रखता अपितु वह भविष्य को प्रभावित करने की भी क्षमता रखता है। यह सब अपने को स्वप्न के माध्यम से अभिव्यक्त करता रहता है और जब दैनिक घटनाओं में बाहरी मन पूर्णतया व्यस्त नहीं होता तो उसे विभिन्न ढंग से इन सब की खबर मिलती है। यह अप्रकट मन न कोई पवित्र चीज़ है और न तो ऐसी चीज़ है जिससे भय मालूम हो और न तो यह बाहरी मन के प्रति प्रकट होने के लिए किसी विशेषज्ञ की ही माँग करता है। अप्रकट मन के पास बहुत अधिक शक्ति होने के कारण ही बाहरी मन इसके साथ जो चाहे सो नहीं कर सकता है। अपने अप्रकट हिस्से की तुलना में बाहरी मन बहुत अधिक शक्तिहीन है। इस पर प्रभाव जमाने का वह चाहे कितना ही प्रयास क्यों न करे, इसे आकार देने का एवं इस पर नियंत्रण करने का कितना ही प्रयास क्यों न करे, परन्तु अपनी तात्कालिक सामाजिक माँगों या क्रिया-कलाप के कारण यह अप्रकट मन की सतह को केवल खरोंच सकता है, और इस प्रकार अप्रकट और प्रकट मन में दरार एवं परस्पर विरोध पैदा होता है। हम लोग इस खाई को अनुशासन से, विभिन्न अभ्यासों से या बल प्रयोग आदि से पाटने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु इस प्रकार उसे पाटा नहीं जा सकता है। क्योंकि चेतन मन मात्र 'तात्कालिक' में— सीमित वर्तमान में— व्यस्त है जबकि अचेतन मन युगों का भार लिए हुए है जो किसी तात्कालिक आवश्यकता से नहीं मिटाया जा सकता। यह अचेतन मन गहन काल का गुण लिए हुए है। आधुनिक संस्कृति से युक्त बाहरी मन अपनी क्षणिक उत्कट आवश्यकताओं के

अनुसार इसका सामना नहीं कर सकता है। इसलिए परस्पर विरोध को समूल विनष्ट करने के लिए बाहरी मन को इस तथ्य को समझना चाहिए और उसे निश्चल हो जाना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि अप्रकट मन की असंख्य प्रवृत्तियों को अवसर दिया जाए। जब अप्रकट और प्रकट में प्रतिरोध नहीं होता है, तो अप्रकट 'तत्काल' का उल्लंघन नहीं करता, क्योंकि अप्रकट के पास समय का धैर्य है।

यह अप्रकट, अज्ञात और अबूझ मन तथा इसका वह सतही और बाहरी हिस्सा जिसे 'शिक्षित' किया गया है— तात्कालिक वर्तमान की चुनौतियों और माँगों के सम्पर्क में आता है। बाहरी मन चुनौतियों का समुचित उत्तर दे भी सकता है; किन्तु चूँकि वाह्य और अप्रकट के बीच में एक परस्पर विरोध होता है, इस कारण वाह्य का कोई भी अनुभव केवल अप्रकट और वाह्य के बीच में संघर्ष को ही बढ़ाता है। यह आगे और अनुभव लाता है जिससे वर्तमान तथा अतीत के मध्य की खाई और भी चौड़ी हो जाती है। बाहरी मन आभ्यंतर और अप्रकट को समझे बिना वाह्य का अनुभव करता जाता है, इसलिए उससे केवल और अधिक व्यापक तथा गहरा संघर्ष पैदा होता है। अनुभव मन को न तो विमुक्त करते हैं और न तो समृद्ध ही करते हैं, जैसा कि हम लोग प्रायः सोचते हैं। जब तक अनुभव, अनुभवकर्ता को बलशाली बनाता रहता है, तब तक संघर्ष तो होना ही है। संस्कारग्रस्त मन अपनी अनुभूतियों से केवल संस्कारग्रस्तता को ही बल प्रदान करता रहता है और इस प्रकार संघर्ष और दुःख को ही बढ़ाता है। केवल उसी मन के लिए अनुभव की क्रिया मुक्ति का साधन हो सकती है जो अपने समस्त ढंग-ढर्रे और तौर-तरीके को समझने में समर्थ है।

जब अप्रकट मन की बहुत-सी परतों की क्षमताओं और शक्तियों का अवलोकन और बोध कर लिया जाता है तो फिर उनके विस्तार एवं बारीकियों की बुद्धिमानी एवं समझदारी के साथ छानबीन की जा सकती है। जो बात महत्त्वपूर्ण है वह है अप्रकट मन की समझ न कि ज्ञान अर्जित करने के लिए मात्र सतही और वाह्य मन की शिक्षा, भले ही यह कितना ही आवश्यक क्यों न हो। अप्रकट मन की यह समझ समग्र मन को द्वन्द्व से मुक्त कर देती है और तभी प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है।

चूँकि हम मानव का समग्र विकास चाहते हैं, अतः हमें केवल प्रतिदिन की क्रियाओं में व्यस्त रहने वाले वाह्य मन को ही पूर्ण क्षमता नहीं प्रदान करनी है, अपितु उस अप्रकट मन को भी समझना है; क्योंकि अप्रकट मन को समझने में ही समग्रतापूर्वक जीना हो सकेगा, जिसमें अंतर्विरोध और इसकी पीड़ा और प्रसन्नता समाप्त हो जाती है। अप्रकट मन के कार्यों के प्रति सजग होना एवं उससे परिचित होना आवश्यक है किन्तु यह उतना ही आवश्यक है कि हम उसी में व्यस्त न हो जाएँ और न उसे अनुचित महत्व ही दें।

जब मन अपने सतही एवं अप्रकट, दोनों ही हिस्सों को समझ लेता है तभी यह अपनी सीमाओं के पार जा सकता है और उस आनन्द को उद्घाटित कर सकता है जो समय की उपज नहीं है।

●

जे० कृष्णमूर्ति का कुछ अनूदित साहित्य

हिन्दी

ज्ञात से मुक्ति	रु०	70.00
हिंसा से परे	रु०	90.00
गरुड़ की उड़ान	रु०	50.00
संस्कृति का प्रश्न	रु०	100.00
शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य	रु०	60.00
शिक्षा संवाद	रु०	75.00
स्कूलों के नाम पत्र	रु०	60.00
आमूल क्रान्ति की आवश्यकता	रु०	60.00
जीवन भाष्य (I, II प्रति)	रु०	60.00
अन्तिम वार्ताएँ	रु०	70.00
ध्यान में मन	रु०	10.00
काल और काल से परे	रु०	20.00
परिसंवाद (त्रैमासिक) प्रति अंक	रु०	10.00

बंगला

हिंशार ओ पारे	रु०	40.00
जानार बॉन्धोन थेके मुक्ती	रु०	30.00
शिक्षा ओ जीबोनेर तात्पर्य	रु०	40.00
जीबोनेर बोइ	रु०	10.00
स्वगत संलाप	रु०	10.00

उर्दू

तालीम और ज़िंदगी की अहमियत	रु०	50.00

विध्वंस के कगार पर खड़े इस संसार में सम्पूर्ण जीवन की गहरी समझ में से उपजी एक पूर्णतया भिन्न प्रकार की नैतिकता और आचरण की बेहद आवश्यकता है, ऐसा कृष्णमूर्ति जोर देकर कहते हैं। तमाम तरह की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्रान्तियाँ इस दिशा में विफल रही हैं। लेकिन एक मौलिक क्रान्ति है जो हमारे मानस के आमूलचूल परिवर्तन से सीधे सम्बन्ध रखती है और इसकी शुरुआत होती है सम्यक् शिक्षा और मनुष्य के समग्र विकास से।

जे० कृष्णमूर्ति की एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है 'लाइफ अहेड', उसी की प्रस्तावना का हिन्दी अनुवाद 'सीखने की कला' के रूप में प्रस्तुत है। सम्यक् शिक्षा और समग्र विकास में 'सीखना' सर्वोपरि महत्त्व की प्रक्रिया है। कृष्णमूर्ति के अनुसार सीखने का तात्पर्य मात्र जानकारियों का संग्रह करते जाना नहीं है, बल्कि गहरी समझ और किसी भी चीज़ को सिर्फ़ उसी के वास्ते करने के अनुराग का होना है। वस्तुतः 'सीखने' की प्रक्रिया में न तो तुलनात्मक मूल्यांकन का कोई स्थान होता है और न ही किसी प्रकार की कोई 'सत्ता' का। यहाँ शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों एक साथ मि[illegible] समग्रता में समझते हैं।

Library IIAS, Shimla
H 181.49 K 897 S
G6092

मूल्य : रुपये 15/-